सर्वज्ञत्व और उसका अर्थ

हेतुवाद-अहेतुवाद

प्रस्तुत लेख का आशय समझने के लिए प्रारम्भ में थोड़ा प्रास्ताविक विचार दर्शाना जरूरी है, जिससे पाठक वक्तव्य का भलीभाँति विश्लेषण कर सके। जीवन के श्रद्धा और बुद्धि ये दो मुख्य अंश हैं। वे परस्पर विभक्त नहीं हैं; फिर भी दोनों के प्रवृत्ति क्षेत्र या विषय थोड़े-बहुत परिमाण में जुदे भी हैं। बुद्धि, तर्क, अनुमान या विज्ञान से जो वस्तु सिद्ध होती है उसमें श्रद्धा का प्रवेश सरल है, परन्तु श्रद्धा के सभी विषयों में अनुमान या विज्ञान का प्रयोग संभव नहीं। अतीन्द्रिय अनेक तत्त्व ऐसे हैं जो जुदे-जुदे सम्प्रदाय में श्रद्धा के विषय बने देखे जाते हैं, पर उन तत्त्वों का निर्विवाद समर्थन अनुमान या विज्ञान की सीमा से परे है। उदाहरणार्थ, जो श्रद्धालु ईश्वर को विश्व के कर्ता-धर्ता रूप से मानते हैं या जो श्रद्धालु किसी में त्रैकालिक सर्वज्ञत्व मानते हैं, वे चाहते तो हैं कि उनकी मान्यता अनुमान या विज्ञान से समर्थित हो, पर ऐसी मान्यता के समर्थन में जब तर्क या विज्ञान प्रयत्न करने लगता है तब कई बार बलवत्तर विरोधी अनुमान उस मान्यता को उलट भी देते हैं। ऐसी वस्तुस्थिति देखकर तत्त्वचिंतकों ने वस्तु के स्वरूपानुसार उसके समर्थन के लिए दो उपाय अलग-अलग बतलाए—एक उपाय है हेतुवाद, जिसका प्रयोगवर्तुल देश-काल की सीमा से परे नहीं। दूसरा उपाय है अहेतुवाद, जो देशकाल की सीमा से या इन्द्रिय और मन की पहुँच से पर ऐसे विषयों में उपयोगी है।

इस बात को जैन परम्परा की दृष्टि से प्राचीन बहुश्रुत आचार्यों ने स्पष्ट भी किया है[1]। जब उनके सामने धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा भव्यत्व-

---

१. दुविहो धम्मावाओ अहेउवाओ य हेउवाओ य।
तत्थ उ अहेउवाओ भवियाऽभवियादओ भावा॥
भविओ सम्मद्दंसण-णाण-चरित्तपडिवत्तिसंपन्नो।
णियमा दुक्खंतकडो त्ति लक्खणं हेउवायस्स॥
जो हेउवायपक्खम्मि हेउओ आगमे य आगमिओ।
सो ससमयपण्णवओ सिद्धन्तविराहओ अन्नो॥
—सन्मति प्रकरण ३. ४३-४५ तथा इन
गाथाओं का गुजराती विवेचन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभव्यत्व के विभाग जैसे साम्प्रदायिक मान्यता के प्रश्न तर्क के द्वारा समर्थन के लिए उपस्थित हुए तब उन्होंने कह दिया कि ऐसे अतीन्द्रिय विषय हेतुवाद से सिद्ध हो नहीं सकते। उनको अहेतुवाद से ही मानकर चलना होगा। अहेतुवाद का अर्थ है परम्परागत आगम पर या ऋषिप्रतिभा पर अथवा आध्यात्मिक प्रज्ञा पर विश्वास रखना।

यह नहीं कि मात्र जैन परम्परा ने ही ऐसे अहेतुवाद का आश्रय लिया हो। सभी धार्मिक परम्पराओं को अपनी किसी न किसी अतीन्द्रिय मान्यताओं के बारे में अपनी-अपनी दृष्टि से अहेतुवाद का आश्रय लेना पड़ा है। जब वेदान्त को अतीन्द्रिय परमब्रह्म की स्थापना में तर्क बाधक दिखाई दिए तब उसने श्रुति का अन्तिम आश्रय लेने की बात कही और तर्काप्रतिष्ठानात्[1] कह दिया। इसी तरह जब नागार्जुन जैसे प्रबल तार्किक को स्वभावनैरात्म्यरूप शून्य तत्त्व के स्थापन में तर्कवाद अधूरा या बाधक दिखाई दिया तब उसने प्रज्ञा का आश्रय लिया। केण्ट जैसे तत्त्वज्ञ ने भी देश-काल से पर ऐसे तत्त्व को बुद्धि या विज्ञान की सीमा से पर बतलाकर मात्र श्रद्धा का विषय सूचित किया। स्पेन्सर की आलोचना करते हुए विल डुरां ने स्पष्ट कह दिया कि ईश्वरवादी विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश करना छोड़ दें और वैज्ञानिक लोग ईश्वर तत्त्व या धर्म के विषय में प्रवेश करना छोड़ दें। यह एक प्रकार का हेतु-अहेतुवाद के वर्तुल का विभाजन ही तो है!

सर्वज्ञत्व जैन परम्परा की चिरश्रद्धेय और उपास्य वस्तु है। प्रश्न तो इतना ही है कि उसका अर्थ क्या? और वह हेतुवाद का विषय है या अहेतुवाद का? इसका उत्तर शताब्दियों से हेतुवाद के द्वारा दिया गया है। परन्तु बीच-बीच में कुछ आचार्य ऐसे भी हुए हैं जिनको इस विषय में हेतुवाद का उपयोग करना ठीक जँचा नहीं जान पड़ता। एक तरफ से सारे सम्प्रदाय में स्थिर ऐसी प्रचलित

सिद्धं चेद्धेतुतः सर्वं न प्रत्यक्षादितो गतिः।
सिद्धं चेदागमात्सर्वं विरुद्धार्थमतान्यपि॥
विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
आवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते॥
वक्तर्यनाप्ते यद्धेतोः साध्यं तद्धेतुसाधितम्।
आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात् साध्यमागमसाधितम्॥

—आप्तमीमांसा श्लो. ७६–८.

१. तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्ययानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसंगः।

—ब्रह्मसूत्र २. १. ११.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मान्यता का विरोध करने की कठिनाई और दूसरी तरफ से सर्वज्ञत्व जैसे अतीन्द्रिय तत्त्व में अल्पज्ञत्व के कारण अन्तिम उत्तर देने की कठिनाई—ये दोनों कठिनाइयाँ उनके सामने भी अवश्य थीं; फिर भी उनके तटस्थ तत्त्वचिन्तन और निर्भयत्व ने उन्हें चुप न रखा। ऐसे आचार्यों में प्रथम हैं कुन्दकुन्द और दूसरे हैं याकिनीसूनु हरिभद्र। कुन्दकुन्द आध्यात्मिक व गम्भीर विचारक रहे। उनके सामने सर्वज्ञत्व का परम्परागत अर्थ तो था ही, पर जान पड़ता है कि उन्हें मात्र परम्परावलम्बित भाव में सन्तोष न हुआ। अतएव प्रवचनसार आदि ग्रन्थों में जहाँ एक ओर उन्होंने परम्परागत त्रैकालिक सर्वज्ञत्व का लक्षण निरूपण किया[1] वहाँ नियमसार में उन्होंने व्यवहार निश्चय का विश्लेषण करके सर्वज्ञत्व का और भी भाव सुझाया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि लोकालोक जैसी आत्मेतर वस्तुओं को जानने की बात कहना यह व्यवहारनय है और स्वात्मस्वरूप को जानना व उसमें निमग्न होना यह निश्चयनय है[2]। यह ध्यान में रहे कि समयसार में उन्होंने खुद ही व्यवहारनय को असद्भूत—अपारमार्थिक कहा है[3]। कुन्दकुन्द के विश्लेषण का आशय यह जान पड़ता है कि उनकी दृष्टि में आत्मस्वरूप का ज्ञान ही मुख्य व अन्तिम ध्येय रहा है। इसलिए उन्होंने उसी को पारमार्थिक या निश्चयनयसम्मत कहा। एक ही उपयोग में एक ही समय जब आत्मा और आत्मेतर वस्तुओं का तुल्य प्रतिभास होता हो तब उसमें यह विभाग नहीं किया जा सकता कि लोकालोक का भास व्यवहारनय है और और आत्मतत्त्व का भास निश्चयनय है। दोनों भास या तो पारमार्थिक हैं या दोनों व्यावहारिक हैं—ऐसा ही कहना पड़ेगा फिर भी जब कुन्दकुन्द जैसे

---

१. परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया।
सो णेव ते विजाणदि ओग्गह पुव्वाहिं किरियाहिं॥
णत्थि परोक्खं किंचिवि समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स।
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स॥
—प्रवचनसार १. २१–२.

२. अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोयं ण केवली भगवं।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ॥
—नियमसार गा. १६६.

३. ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥
—समयसार गा. ११.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्यात्मवेदी ने निश्चय-व्यवहार का विश्लेषण किया तब यह समझना कठिन नहीं कि परम्परागत मान्यता को चालू रखने के उपरान्त भी उनके मन में एक नया अर्थ अवश्य सूझा जो उन्होंने अपने प्रिय नयवाद से विश्लेषण के द्वारा सूचित किया जिससे श्रद्धालु वर्ग की श्रद्धा भी बनी रहे और विशेष जिज्ञासु व्यक्ति के लिए एक नई बात भी सुझाई जाय।

असल में कुन्दकुन्द का यह निश्चयवाद उपनिषदों, बौद्धपिटकों और प्राचीन जैन उल्लेखों में भी जुदे-जुदे रूप से निहित था, पर सचमुच कुन्दकुन्द ने उसे जैन परिभाषा में नए रूप से प्रगट किया।

ऐसे ही दूसरे आचार्य हुए हैं याकिनीसूनु हरिभद्र। वे भी अनेक तर्क-ग्रन्थों में त्रैकालिक सर्वज्ञत्व का हेतुवाद से समर्थन कर चुके थे, पर जब उनको उस हेतुवाद में त्रुटि व विरोध दिखाई दिया तब उन्होंने सर्वज्ञत्व का सर्वसम्प्रदाय-अविरुद्ध अर्थ किया व अपना योगसुलभ माध्यस्थ्य सूचित किया।

मैंने प्रस्तुत लेख में कोई नई बात तो कही नहीं है, पर कही है तो वह इतनी ही है कि अगर सर्वज्ञत्व को तर्क से, दलील से या ऐतिहासिक क्रम से समझना या समझाना हो तो पुराने जैन ग्रन्थों के कुछ उल्लेखों के आधार पर व उपनिषदों तथा पिटकों के साथ तुलना करके मैंने जो अर्थ समझाया है वह शायद सत्य के निकट अधिक है। त्रैकालिक सर्वज्ञत्व को मानना हो तो श्रद्धा-पुष्टि व चरित्रशुद्धि के ध्येय से उसको मानने में कोई नुकसान नहीं। हाँ, इतना समझ रखना चाहिए कि वैसा सर्वज्ञत्व हेतुवाद का विषय नहीं; वह तो धर्मास्तिकाय आदि की तरह अहेतुवाद का ही विषय हो सकता है। ऐसे सर्वज्ञत्व के समर्थन में हेतुवाद का प्रयोग किया जाय तो उससे उसे समर्थित होने के बजाय अनेक अनिवार्य विरोधों का ही सामना करना पड़ेगा।

श्रद्धा का विषय मानने के दो कारण हैं। एक तो पुरातन अनुभवी योगिओं के कथन की वर्तमान अज्ञान स्थिति में अवहेलना न करना। और दूसरा वर्तमान वैज्ञानिक खोज के विकास पर ध्यान देना। अभी तक के प्रायोगिक विज्ञान ने टेलीपथी, क्लेरवोयन्स और प्रीकोग्नीशन की स्थापना से इतना तो सिद्ध कर ही दिया है कि देश-काल की मर्यादा का अतिक्रमण करके भी ज्ञान संभव है। यह संभव कोटि योग परंपरा के ऋतंभरा और बौद्ध आदि परंपरा की सर्वज्ञ दशा की ओर संकेत करती है।

सर्वज्ञत्व का इतिहास

भारत में हर एक सम्प्रदाय किसी न किसी रूप से सर्वज्ञत्व के ऊपर अधिक भार देता आ रहा है। हम ऋग्वेद आदि वेदों के पुराने भागों में देखते हैं कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूर्य, वरुण, इन्द्र आदि किसी देव की स्तुति में सीधे तारे से या गर्भित रूप से सर्वज्ञत्व का भाव सूचित करने वाले सर्वचेतस सहस्रचक्षु[1] आदि विशेषण प्रयुक्त हैं। उपनिषदों में खासकर पुराने उपनिषदों में भी सर्वज्ञत्व के सूचक और प्रतिपादक विशेषण एवं वर्णन का विकास देखा जाता है। यह वस्तु इतना साबित करने के लिए पर्याप्त है कि भारतीय मानस अपने सम्मान्य देव या पूज्य व्यक्ति में सर्वज्ञत्व का भाव आरोपित किये बिना संतुष्ट होता न था। इसीसे हर एक सम्प्रदाय अपने पुरस्कर्ता या मूल प्रवर्तक माने जाने वाले व्यक्ति को सर्वज्ञ मानता था। साम्प्रदायिक बाड़ों के बाजार में सर्वज्ञत्व के द्वारा अपने प्रधान पुरुष का मूल्य आँकने और आँकवाने की इतनी अधिक होड़ लगी थी कि कोई पुरुष जिसे उसके अनुयायी सर्वज्ञ कहते और मानते थे वह खुद अपने को उस माने में सर्वज्ञ न होने की बात कहे तो अनुयायियों की तृप्ति होती न थी। ऐसी परिस्थिति में हर एक प्रवर्तक या तीर्थंकर का उस-उस सम्प्रदाय के द्वारा सर्वज्ञरूप से माना जाना और उस रूप में उसकी प्रतिष्ठा निर्माण करना यह अनिवार्य बन जाय तो कोई आश्चर्य नहीं।

हम इतिहास काल में आकर देखते हैं कि खुद बुद्ध ने अपने को उस अर्थ में सर्वज्ञ मानने का इनकार[2] किया है कि जिस अर्थ में ईश्वरवादी ईश्वर को और जैन लोग महावीर आदि तीर्थङ्करों को सर्वज्ञ मानते-मनाते थे। ऐसा होते हुए भी आगे जाकर सर्वज्ञत्व मानने मनाने की होड़ ने बुद्ध के कुछ शिष्यों को ऐसा बाधित किया कि वे ईश्वरवादी और पुरुषसर्वज्ञत्ववादी की तरह ही बुद्ध का सर्वज्ञत्व युक्ति प्रयुक्ति[3] से स्थापित करें। इससे स्पष्ट है कि हर एक साम्प्रदायिक आचार्य और दूसरे अनुयायी अपने सम्प्रदाय की नींव सर्वज्ञत्व मानने-मनाने और युक्ति से उसका स्थापन करने में देखते थे।

इस तार्किक होड़ का परिणाम यह आया कि कोई सम्प्रदाय अपने मान्य पुरुष या देव के सिवाय दूसरे सम्प्रदाय के मान्य पुरुष या देव में वैसा सर्वज्ञत्व मानने को तैयार नहीं जैसा कि वे अपने इष्टतम पुरुष या देव में सरलता से मानते आते थे। इससे प्रत्येक सम्प्रदाय के बीच इस मान्यता पर लम्बे अरसे से वाद-विवाद होता आ रहा है। और सर्वज्ञत्व श्रद्धा की वस्तु मिटकर तर्क की वस्तु बन गया। जब उसका स्थापन तर्क के द्वारा होना शुरू हुआ तब हर एक तार्किक अपने बुद्धि-बल का उपयोग नये-नये तर्कों के उद्भावन में करने लगा।

१. ऋग्वेद १.२३.३; १०.८१.३।

२. मज्झिमनिकाय—चूलमालुंक्यपुत्तसुत्त; प्रमाणवार्तिक १.३२–३३।

३. तत्त्वसंग्रहपंजिका पृ० ८६३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके कारण एक तरफ से जैसे सर्वज्ञत्व के अनेक अर्थों की सृष्टि हुई[1] वैसे ही उसके समर्थन की अनेक युक्तियाँ भी व्यवहार में आईं।

जैनसंमत अर्थ

जहाँ तक जैन परम्परा का सम्बन्ध है उसमें सर्वज्ञत्व का एक ही अर्थ माना जाता रहा है और वह यह कि एक ही समय में त्रैकालिक समग्र भावों को साक्षात् जानना। इसमें शक नहीं कि आज जो पुराने से पुराना[2] जैन आगमों का भाग उपलब्ध है उसमें भी सर्वज्ञत्व के उक्त अर्थ के पोषक वाक्य मिल जाते हैं परन्तु सर्वज्ञत्व के उस अर्थ पर तथा उसके पोषक वाक्यों पर स्वतन्त्र बुद्धि से विचार करने पर तथा उन्हीं अति पुराण आगमिक भागों में पाये जाने वाले दूसरे वाक्यों के साथ विचार करने पर यह स्पष्ट जान पड़ता है कि मूल में सर्वज्ञत्व का वह अर्थ जैन परम्परा को भी मान्य न था जिस अर्थ को आज वह मान रही है और जिसका समर्थन सैकड़ों वर्ष से होता आ रहा है।

प्रश्न होगा कि तब जैन परम्परा में सर्वज्ञत्व का असली अर्थ क्या था? इसका उत्तर आचारांग, भगवती आदि के कुछ पुराने उल्लेखों से मिल जाता है। आचारांग में कहा है कि[3] जो एक को जानता है वह सर्व को जानता है। और जो सबको जानता वह एक को जानता है।' इस वाक्य का तात्पर्य टीकाकारों और तार्किकों ने एक समय में त्रैकालिक समग्र भावों के साक्षात्काररूप से फलित किया है। परन्तु उस स्थान के आगे-पीछे का सम्बन्ध तथा आगे पीछे, के वाक्यों को ध्यान में रखकर हम सीधे तौर से सोचें तो उस वाक्य का तात्पर्य दूसरा ही जान पड़ता है। वह तात्पर्य मेरी दृष्टि से यह है कि जो एक ममत्व, प्रमाद या कषाय को जानता है वह उसके क्रोधादि सभी आविर्भावों, पर्यायों या प्रकारों को जानता है और जो क्रोध, मान आदि सब आविर्भावों को या पर्यायों को जानता है वह उन सब पर्यायों के मूल और उनमें अनुगत एक ममत्व या बन्धन को जानता है। जिस प्रकरण में उक्त वाक्य आया है वह प्रकरण मुमुक्षु के लिए कषायत्याग के उपदेश का और एक ही जड़ में से जुदे-जुदे कषाय रूप परिणाम दिखाने का है। यह बात ग्रन्थकार ने पूर्वोक्त वाक्य से तुरंत ही आगे दूसरे वाक्य के द्वारा स्पष्ट की है जिसमें कहा गया है कि 'जो एक को नमाता है दबाता है या वश करता है वह बहुतों को नमाता दबाता या वश करता है और जो बहु को नमाता है वह एक को नमाता है।'

१. तत्त्वसंग्रह पृ० ८४६.

२. आचा० पृ० ३६२ (द्वि० आवृत्ति)।

३. जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ; जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ३-४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नमाना, दबाना या वश करना मुमुक्षु के लिए कषाय के सिवाय अन्य वस्तु में लागू हो नहीं सकता। जिससे इसका तात्पर्य यह निकलता है कि जो मुमुक्षु एक अर्थात् प्रमाद को वश करता है वह बहुत कषायों को वश करता है और जो बहुत कषायों को वश करता है वह एक अर्थात् प्रमाद को वश करता ही है। स्पष्ट है कि नमाने की और वश करने की वस्तु जब कषाय है तब ठीक उसके पहले आये हुए वाक्य में जानने की वस्तु भी कषाय ही प्रकरणप्राप्त है। आध्यात्मिक साधना और जीवन शुद्धि के क्रम में जैन तत्त्वज्ञान की दृष्टि से आस्रव के ज्ञान का और उसके निरोध का ही महत्त्व है। जिसमें कि त्रैकालिक समग्र भावों के साक्षात्कार का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। उसमें प्रश्न उठता है तो मूल दोष और उसके विविध आविर्भावों के जानने का और निवारण करने का। ग्रन्थकार ने वहाँ यही बात बतलाई है। इतना ही नहीं, बल्कि उस प्रकरण को खतम करते समय उन्होंने वह भाव 'जे कोहदंसी से माणदंसी, जे माणदंसी से मायादंसी, जे मायादंसी से लोभदंसी, जे लोभदंसी से पिज्जदंसी, जे पिज्जदंसी से दोसदंसी, जे दोसदंसी से मोहदंसी, जे मोहदंसी से गब्भदंसी, जे गब्भदंसी से जम्मदंसी, जे जम्मदंसी से मारदंसी, जे मारदंसी से नरयदंसी, जे नरयदंसी से निरियदंसी, जे निरियदंसी से दुक्खदंसी।' इत्यादि शब्दों में स्पष्ट रूप में प्रकट भी किया है। इसलिए 'जे एगं जाणई' इत्यादि वाक्यों का जो तात्पर्य मैंने ऊपर बतलाया वही वहाँ पूर्णतया संगत है और दूसरा नहीं। इसलिए मेरी राय में जैन परम्परा में सर्वज्ञत्व का असली अर्थ आध्यात्मिक साधना में उपयोगी सब तत्त्वों का ज्ञान यही होना चाहिए; नहीं कि त्रैकालिक समग्र भावों का साक्षात्कार।

उक्त वाक्यों को आगे के तार्किकों ने एक समय में त्रैकालिक भावों के साक्षात्कार अर्थ में घटाने की जो कोशिश की है[1] वह सर्वज्ञत्व-स्थापन की साम्प्रदायिक होड़ का नतीजा मात्र है। भगवती सूत्र में महावीर के मुख्य शिष्य इन्द्रभूति और जमाली का एक संवाद है[2] जो सर्वज्ञत्व के अर्थ पर प्रकाश डालता है। जमाली महावीर का प्रतिद्वंद्वी है। उसे उसके अनुयायी सर्वज्ञ मानते होंगे। इसलिए जब वह एक बार इन्द्रभूति से मिला तो इन्द्रभूति ने उससे प्रश्न किया कि कहो जमाली! तुम यदि सर्वज्ञ हो तो जवाब दो कि लोक शाश्वत है या अशाश्वत? जमाली चुप रहा तिस पर महावीर ने कहा कि तुम कैसे सर्वज्ञ? देखो इसका उत्तर मेरे असर्वज्ञ शिष्य दे सकते हैं तो भी मैं उत्तर देता हूँ कि

१. स्याद्वादमंजरी का० १। २. भगवती ९. ६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यार्थिक दृष्टि से लोक शाश्वत है और पर्यायार्थिक दृष्टि से अशाश्वत। महावीर के इस उत्तर से सर्वज्ञत्व के जैनाभिप्रेत अर्थ के असली स्तर का पता चल जाता है कि जो द्रव्य-पर्याय उभय दृष्टि से प्रतिपादन करता है वही सर्वज्ञ है। महावीर ने जमाली के सम्मुख एक समय में त्रैकालिक भावों को साक्षात् जाननेवाले रूप से अपने को वर्णित नहीं किया है। जिस रूप में उन्होंने अपने को सर्वज्ञ वर्णित किया वह रूप सारी जैन परम्परा के मूल गत स्रोत से मेल भी खाता है और आचारांग के उपर्युक्त अति पुराने उल्लेखों से भी मेल खाता है। उसमें न तो अत्युक्ति है, न अल्पोक्ति; किंतु वास्तविक स्थिति निरूपित हुई है। इसलिए मेरी राय में जैन परम्परा में माने-जानेवाले सर्वज्ञत्व का असली अर्थ वही होना चाहिए न कि पिछला तर्क से सिद्ध किया जानेवाला—एक समय में सर्व भावों का साक्षात्कार रूप अर्थ।

मैं अपने विचार की पुष्टि में कुछ ऐसे भी संवादि प्रमाण का निर्देश करना उचित समझता हूँ जो भगवान् महावीर के पूर्वकालीन एवं समकालीन हैं। हम पुराने उपनिषदों में देखते हैं कि एक ब्रह्मतत्त्व के जान लेने पर अन्य सब अविज्ञात विज्ञात हो जाता है ऐसा स्पष्ट वर्णन है[1] और इसके समर्थन में वहीं दृष्टान्त रूप से मृत्तिका का निर्देश करके बतलाया है कि जैसे एक ही मृत्तिका सत्य है, दूसरे घट-शराव आदि विकार उसी के नामरूप मात्र हैं, वैसे ही एक ही ब्रह्म पारमार्थिक सत्य है बाकी का विश्व प्रपंच उसी का विलासमात्र है[1] (जैन परिभाषा में कहें तो बाकी का सारा जगत ब्रह्म का पर्यायमात्र है।) उसकी परब्रह्म से अलग सत्ता नहीं। उपनिषद् के ऋषि का भार ब्रह्मज्ञान पर है, इसलिए वह ब्रह्म को ही मूल में पारमार्थिक कहकर बाकी के प्रपंच को उससे भिन्न मानने पर जोर नहीं देता। यह मानी हुई सर्वसम्मत बात है कि जो जिस तत्त्व का मुख्यतया ज्ञेय, उपादेय या हेय रूप से प्रतिपादन करना चाहता है वह उसी पर अधिक से अधिक भार देता है। उपनिषदों का प्रतिपाद्य आत्मतत्त्व या परब्रह्म है। इसीलिए उसी के ज्ञान पर भार देते हुए ऋषियों ने कहा कि आत्मतत्त्व के जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है। इस स्थल पर मृत्तिका का दृष्टान्त दिया गया है, वह भी इतना ही सूचित करता है कि जुदे-जुदे विकारों और पर्यायों में मृत्तिका अनुगत है, वह विकारों की तरह अस्थायी नहीं, जैसा कि विश्व के प्रपंच में ब्रह्म अस्थायी नहीं। हम उपनिषदगत

---

१. आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितं भवति—बृहदारण्यकोपनिषद् २. ४. ५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस वर्णन में यह स्पष्ट देखते हैं कि इसमें द्रव्य और पर्याय दोनों का वर्णन है; पर भार अधिक द्रव्य पर है। इसमें कार्य-कारण दोनों का वर्णन है; पर भार तो अधिक मूल कारण—द्रव्य पर ही है। ऐसा होने का सबब यही है कि उपनिषद् के ऋषि मुख्यतया आत्मस्वरूप के निरूपण में ही दत्तचित्त हैं और दूसरा सब वर्णन उसी के समर्थन में है। यह औपनिषदिक भाव ध्यान में रखकर आचारांग के 'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ' इस वाक्य का अर्थ और प्रकरण संगति सोचें तो स्पष्ट ध्यान में आ जायगा कि आचारांग का उक्त वाक्य द्रव्य पर्यायपरक मात्र है। जैन परम्परा उपनिषदों की तरह एक मात्र ब्रह्म या आत्म द्रव्य के अखण्ड ज्ञान पर भार नहीं देती, वह आत्मा की या द्रव्यमात्र की भिन्न-भिन्न पर्याय रूप अवस्थाओं के ज्ञान पर भी उतना ही भार पहले से देती आई है। इसीलिए आचारांग में दूसरा वाक्य ऐसा है कि जो सबको—पर्यायों को जानता है वह एक को—द्रव्य को जानता है। इस अर्थ की जमाली-इन्द्रभूति संवाद से तुलना की जाय तो इसमें सन्देह ही नहीं रहता कि जैन-परम्परा का सर्वज्ञत्व संबंधी दृष्टिकोण मूल में केवल इतना ही था कि द्रव्य और पर्याय उभय को समान भाव से जानना ही ज्ञान की पूर्णता है।

बुद्ध जब मालुंक्य पुत्र नामक अपने शिष्य से कहते हैं कि मैं चार आर्य सत्यों के ज्ञान का ही दावा करता हूँ और दूसरे अगम्य एवं काल्पनिक तत्वों के ज्ञान का[1] नहीं, तब वह वास्तविक भूमिका पर है। उसी भूमिका के साथ महावीर के सर्वज्ञत्व की तुलना करने पर भी फलित यही होता है कि अत्युक्ति या अल्पोक्ति नहीं करने वाले संतप्रकृति के महावीर द्रव्यपर्यायवाद की पुरानी निर्ग्रन्थ परम्परा के ज्ञान को ही सर्वज्ञत्वरूप मानते होंगे। जैन और बौद्ध परम्परा में इतना फर्क अवश्य रहा है कि अनेक तार्किक बौद्ध विद्वानों ने बुद्ध को त्रैकालिकज्ञान के द्वारा सर्वज्ञ स्थापित करने का प्रयत्न किया है तथापि अनेक असाधारण बौद्ध विद्वानों ने उनको सीधे सादे अर्थ में ही सर्वज्ञ घटाया है। जब कि जैन परम्परा में सर्वज्ञ का सीधा सादा अर्थ भुला दिया जाकर उसके स्थान में तर्कसिद्ध अर्थ ही प्रचलित और प्रतिष्ठित हो गया है और उसी अर्थ के संस्कार में पलने वाले जैन तार्किक आचार्यों को भी यह सोचना अति मुश्किल हो गया है कि एक समय में सर्व भावों के साक्षात्काररूप सर्वज्ञत्व कैसे असंगत है? इसलिए वे जिस तरह हो, मामूली गैरमामूली सब युक्तियों से अपना अभिप्रेत सर्वज्ञत्व सिद्ध करने के लिए ही उतारू रहे हैं।

---

१. चूलमालुंक्य सुत्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करीब दाई हजार वर्ष की शास्त्रीय जैन-परम्परा में हम एक ही अपवाद पाते हैं जो सर्वज्ञत्व के अर्थ की दूसरी बाजू की ओर संकेत करता है। विक्रम की आठवीं शताब्दी में याकिनीसूनु हरिभद्र नामक आचार्य हुए हैं। उन्होंने अपने अनेक तर्कग्रन्थों में सर्वज्ञत्व का समर्थन उसी अर्थ में किया है जिस अर्थ में अपने पूर्ववर्ती श्वेताम्बर दिगम्बर अनेक विद्वान् करते आये हैं। फिर भी उनकी तार्किक तथा समभावशील सत्यग्राही बुद्धि में वह समर्थन अखरा जान पड़ता है। हरिभद्र जब योग जैसे आध्यात्मिक और सत्यगामी विषय पर लिखने लगे तो उन्हें यह बात बहुत खटकी कि महावीर को तो सर्वज्ञ कहा जाय और सुगत, कपिल आदि जो वैसे ही आध्यात्मिक हुए हैं उन्हें सर्वज्ञ कहा या माना न जाय। यद्यपि वे अपने तर्कप्रधान ग्रन्थों में सुगत, कपिल आदि के सर्वज्ञत्व का निषेध कर चुके थे; पर योग के विषय ने उनकी दृष्टि बदल दी और उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ योगदृष्टिसमुच्चय में सुगत, कपिल आदि सभी आध्यात्मिक और सद्गुणी पुरुषों के सर्वज्ञत्व को निर्विवाद रूप से मान लिया और उसका समर्थन भी किया (का० १०२–१०८)। समर्थन करना इसलिए अनिवार्य हो गया था कि वे एक बार सुगत कपिल आदि के सर्वज्ञत्व का निषेध कर चुके थे; पर अब उन्हें वह तर्कजाल मात्र लगती थी (का० १४०–१४७)। हरिभद्र का उपजीवन और अनुगमन करनेवाले अंतिम प्रबलतम जैन तार्किक यशोविजयजी ने भी अपनी कुतर्कग्रहनिवृत्ति[1] द्वात्रिंशिका में हरिभद्र की बात का ही निर्भयता से और स्पष्टता से समर्थन किया है। हालांकि यशोविजयजी ने भी अन्य अनेक ग्रन्थों में सुगत आदि के सर्वज्ञत्व का आत्यन्तिक खण्डन किया है।

हमारे यहाँ भारत में एक यह भी प्रणाली रही है कि प्रबल से प्रबल चिंतक और तार्किक भी पुरानी मान्यताओं का समर्थन करते रहे और नया सत्य प्रकट करने में कभी-कभी हिचकाए भी। यदि हरिभद्र ने वह सत्य योगदृष्टिसमुच्चय में जाहिर किया न होता तो उपाध्याय यशोविजयजी कितने ही बहुश्रुत तार्किक विद्वान् क्यों न हों पर शायद ही सर्वज्ञत्व के इस मौलिक भाव का समर्थन करते। इसलिए

---

१. धर्मवाद के क्षेत्र में श्रद्धागम्य वस्तु को केवल तर्कबल से स्थापित करने का आग्रह ही कुतर्कग्रह है। इसकी चर्चा में उपाध्यायजी ने बत्तीसी में मुख्यतया सर्वज्ञविषयक प्रश्न ही लिया है। और आ० हरिभद्र के भाव को समग्र बत्तीसी में इतना विस्तार और वैशद्य के साथ प्रकट किया है कि जिसे पढ़कर तटस्थ चिन्तक के मन में निश्चय होता है कि सर्वज्ञत्व एक मात्र श्रद्धागम्य है, और तर्कगम्य नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सभी गुणवान् सर्वज्ञ हैं--इस उदार और निर्व्याज असाम्प्रदायिक कथन का श्रेय जैन परम्परा में आचार्य हरिभद्र के सिवाय दूसरे किसी के नाम पर नहीं जाता। हरिभद्र की योगदृष्टिगामिनी वह उक्ति भी मात्र उस ग्रन्थ में सुप्तसे रूप से निहित है। उसकी ओर जैन-परम्परा के विद्वान् या चिन्तक न तो ध्यान देते हैं और न सब लोगों के सामने उसका भाव ही प्रकाशित करते हैं। वे जानते हुए भी इस डर से अनजान बन जाते हैं कि भगवान् महावीर का स्थान फिर इतना ऊँचा न रहेगा, वे साधारण अन्य योगी जैसे ही हो जायँगे। इस डर और सत्य की ओर आँख मूँदने के कारण सर्वज्ञत्व की चालू मान्यता में कितनी बेशुमार असंगतियाँ पैदा हुई हैं और नया विचारक जगत किस तरह सर्वज्ञत्व के चालू अर्थ से सकारण ऊब गया है, इस बात पर पण्डित या त्यागी विद्वान् विचार ही नहीं करते। वे केवल उन्हीं सर्वज्ञत्व समर्थक दलीलों का निर्जीव और निःसार पुनरावर्तन करते रहते हैं जिनका विचारजगत में अब कोई विशेष मूल्य नहीं रहा है।

सर्वज्ञविचार की भूमिकाएँ

ऊपर के वर्णन से यह भली भाँति मालूम हो जाता है कि सर्वज्ञत्व विषयक विचारधारा की मुख्य चार भूमिकाएँ हैं। पहली भूमिका में सूक्त के प्रणेता ऋषि अपने-अपने स्तुत्य और मान्य देवों की सर्वज्ञत्व के सूचक विशेषणों के द्वारा केवल महत्ता भर गाते हैं, उनकी प्रशंसा भर करते हैं, अर्थात् अपने-अपने इष्टतम देव की असाधारणता दर्शित करते हैं। वहाँ उनका तात्पर्य वह नहीं है जो आगे जाकर उन विशेषणों से निकाला जाता है। दूसरी भूमिका वह है जिसमें ऋषियों और विद्वानों को प्राचीन भाषा समृद्धि के साथ उक्त विशेषण-रूप शब्द भी विरासत में मिले हैं, पर वे ऋषि या संत उन विशेषणों का अर्थ अपने ढंग से सूचित करते हैं। जिस ऋषि को पुराने देवों के स्थान में एक मात्र ब्रह्मतत्त्व या आत्मतत्त्व ही प्रतिपाद्य तथा स्तुत्य जँचता है वह ऋषि उस तत्त्व के ज्ञान मात्र में सर्वज्ञत्व देखता है और जो संत आत्मतत्व के बजाय उसके स्थान में हेय और उपादेय रूप से आचार मार्ग का प्राधान्य स्थापित करना चाहता है वह उसी आचारमार्गान्तर्गत चतुर्विध आर्य सत्य के दर्शन में ही सर्वज्ञत्व की इतिश्री मानता है और जो संत अहिंसाप्रधान आचार पर तथा द्रव्य-पर्याय दृष्टिरूप विभज्यवाद के स्वीकार पर अधिक भार देना चाहता है वह उसी के ज्ञान में सर्वज्ञत्व समझता है। तीसरी भूमिका वह है जिसमें दूसरी भूमिका की वास्तविकता और अनुभवगम्यता के स्थान में तर्कमूलक सर्वज्ञत्व के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ की और उसकी स्थापक युक्तियों की कल्पनासृष्टि विकसित होती है। जिसमें अनुभव और समभाव की अवगणना होकर अपने-अपने मान्य देवों या पुरुषों की महत्ता गाने की धुन में दूसरों की वास्तविक महत्ता का भी तिरस्कार किया जाता है या वह भूला दी जाती है। चौथी भूमिका वह है जिसमें फिर अनुभव और माध्यस्थ्य का तत्त्व जागरित होकर दूसरी भूमिका की वास्तविकता और बुद्धिगम्यता को अपनाया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि यह चौथी भूमिका ही सत्य के निकट है, क्योंकि वह दूसरी भूमिका से तत्त्वतः मेल खाती है और मिथ्या कल्पनाओं को तथा साम्प्रदायिकता की होड़ को स्थान नहीं देती।

ई० १९४६] अप्रकाशित]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org